2 जैनेन्द्र कुमार

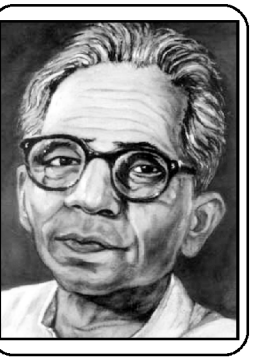

लेखक : एक संक्षिप्त परिचय

- **जन्म**—2 जनवरी, 1905 ई0।
- **जन्म-स्थान**— कौड़ियागंज (अलीगढ़)।
- **घर का नाम**—आनन्दी लाल।
- **प्रारम्भिक शिक्षा**—जैन गुरुकुल (हस्तिनापुर)।
- **लेखन विधा**—गद्य साहित्य।
- **भाषा :** सीधी-सादी, सरल एवं सुबोध।
- **शैली :** विचारात्मक, वर्णनात्मक।
- **प्रमुख रचनाएँ**—प्रस्तुत प्रश्न, पूर्वोदय, परख, सुनीता, त्यागपत्र।
- **मृत्यु**—24 दिसम्बर, सन् 1988 ई0।
- **साहित्य में स्थान :** उपन्यासकार, कहानीकार, निबन्धकार के रूप में हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान।

प्रेमचन्दोत्तर युग के श्रेष्ठ कथाकार जैनेन्द्र जी का जन्म अलीगढ़ के कौड़ियागंज नामक कस्बे में 2 जनवरी, 1905 ई0 में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री प्यारेलाल और माता का नाम श्रीमती रमादेवी था। इनके जन्म के दो वर्ष बाद ही इनके पिता की मृत्यु हो गयी। इनका पालन-पोषण इनकी माता और मामा ने किया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा हस्तिनापुर के जैन गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम में हुई। सन् 1912 में इन्होंने गुरुकुल छोड़ दिया। सन् 1919 में इन्होंने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया, किन्तु सन् 1921 के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण इनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। सन् 1921 ई0 से 1923 ई0 के बीच इन्होंने अपनी माता की सहायता से व्यापार किया और उसमें सफलता प्राप्त की। सन् 1923 ई0 में ये नागपुर पहुँच गये और राजनीतिक पत्रों में संवाददाता के रूप में कार्य करने लगे। उसी समय इन्हें गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया जहाँ ये तीन माह तक रहे। इनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति छात्र-जीवन से ही थी। जेल में स्वाध्याय के साथ ही इन्होंने साहित्य-सृजन का कार्य भी प्रारम्भ किया। इनकी पहली कहानी—**'खेल'** सन् 1928 ई0 में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद ये निरन्तर साहित्य-सृजन में प्रवृत्त रहे। 24 दिसम्बर, 1988 ई0 को इनका देहावसान हो गया।

जैनेन्द्र जी ने कहानी, उपन्यास, निबंध, संस्मरण आदि अनेक गद्य-विधाओं को समृद्ध किया है। इनकी प्रमुख कृतियाँ निम्नांकित हैं :

निबंध संग्रह : 1. *प्रस्तुत प्रश्न,* 2. *जड़ की बात,* 3. *पूर्वोदय,* 4. *साहित्य का श्रेय और प्रेय,* 5. *मंथन,* 6. *सोच-विचार,* 7. *काम, प्रेम और परिवार।*

उपन्यास–1. *परख,* 2. *सुनीता,* 3. *त्याग-पत्र,* 4. *कल्याणी,* 5. *विवर्त,* 6. *सुखदा,* 7. *व्यतीत,* 8. *जयवर्धन,* 9. *मुक्तिबोध।*

कहानियाँ–1. *फाँसी,* 2. *जयसंधि,* 3. *वातायन,* 4. *नीलमदेश की राजकन्या,* 5. *एक रात,* 6. *दो चिड़ियाँ,* 7. *पाजेब।* (इन संग्रहों के बाद जैनेन्द्र की समस्त कहानियाँ दस भागों में प्रकाशित की गयी हैं।)

संस्मरण–*ये और वे।*

अनुवाद–1. *मन्दालिनी* (नाटक), 2. *पाप और प्रकाश* (नाटक), 3. *प्रेम में भगवान्* (कहानी संग्रह)।
उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने संपादन-कार्य भी किया है।

जैनेन्द्र जी की साहित्य-सेवा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मौलिक कथाकार के रूप में तो इनकी विशेष पहचान है ही, निबन्धकार और विचारक के रूप में भी इन्होंने अद्‌भुत प्रतिभा दिखायी है। इन्होंने साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज, राष्ट्र आदि अनेक विषयों को लेकर निबंध-रचना की है। इनके निबंध चिन्तन-प्रधान और विचारात्मक हैं। इनका विचार करने का अपना ढंग है। कभी विषय को सीधे उठा लेना, कभी कुछ दूसरे प्रसंगों की चर्चा करते हुए मूल विषय पर आना, कभी मूल विषय के केन्द्रीय विचार-सूत्र की व्याख्या करते हुए विषय-विस्तार करना, कभी किसी कथा-सन्दर्भ को प्रस्तुत करके उसके भीतर के विचार-सूत्र को निकालकर आगे बढ़ाना और कभी पाठकों को आमंत्रित करके उनके साथ बातचीत करते हुए एक परिचर्चा के रूप में प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करना, इनकी विचार-पद्धति की विविध भंगिमाएँ हैं। किसी भी प्रश्न पर विचार करते हुए ये उसके आंतरिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हैं। इसलिए इनके निबंधों में दर्शन, मनोविज्ञान और अध्यात्म के शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। विचार की निजी शैली के कारण ही इनके निबंधों में व्यक्तिनिष्ठता आ गयी है।

जैनेन्द्र के निबंधों की भाषा मूलतः चिन्तन की भाषा है। ये सोचा हुआ न लिखकर सोचते हुए लिखते हैं। इसलिए इनके विचारों में कहीं-कहीं उलझाव आ जाता है। इनकी विचारात्मक शैली में प्रश्न, उत्तर, तर्क, युक्ति, दृष्टान्त आदि तत्त्वों का समावेश उसे गूढ़ता प्रदान करता है। शब्द-चयन में जैनेन्द्र का दृष्टिकोण उदार है। ये सही बात को सही ढंग से उपयुक्त शब्दावली में कहना चाहते हैं। इसके लिए इन्हें चाहे अंग्रेजी से शब्द लेना पड़े, चाहे उर्दू से, चाहे संस्कृत के तत्सम शब्दों का चयन करना पड़े, चाहे ठेठ घरेलू जीवन के शब्दों को ग्रहण करना हो, इन्हें इसमें कोई संकोच नहीं होता। वस्तुतः जैनेन्द्र की शैली इनके व्यक्तित्त्व का ही प्रतिरूप है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों के समक्ष 'जैनेन्द्र ऐसी उलझन हैं जो पहले से भी अधिक गूढ़ है।' इनके व्यक्तित्त्व का यह सुलझा हुआ उलझाव इनकी शैली में भी लक्षित होता है। अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए इन्होंने विचारात्मक, विवरणात्मक, प्रश्नात्मक, भावात्मक, मनोविश्लेषणात्मक आदि शैलियों का प्रयोग किया है।

प्रस्तुत निबंध **'भाग्य और पुरुषार्थ'** में जैनेन्द्र ने भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में मौलिक दृष्टि से विचार किया है। इनके अनुसार ये दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर सहवर्ती हैं। भाग्य तो विधाता का ही दूसरा नाम है। विधाता की कृपा को पहचानना ही भाग्योदय है। मनुष्य का सारा पुरुषार्थ विधाता की कृपा प्राप्त करने में ही है। विधाता की कृपा प्राप्त होते ही मनुष्य के कर्त्तापन का अहंकार मिट जाता है और उसका भाग्योदय हो जाता है।

भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य और पुरुषार्थ विपरीत नहीं तो अलग तो समझे ही जाते हैं। मैं ऐसा नहीं समझ पाता।

भाग्य का उदय मेरे निकट निरर्थक शब्द नहीं है। स्पष्ट ही भाग्योदय शब्द का आशय है कि मैं प्रधान नहीं हूँ; भाग्य प्रधान है। पुरुषार्थ मैं कर सकता हूँ, लेकिन भाग्योदय उससे स्वतंत्र तत्त्व है। हो सकता है कि लोगों को यह मानने में कठिनाई हो, मुझे इसे स्वीकार करने में उल्टे अपनी धन्यता मालूम होती है।

एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गये हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है, चलती-घूमती धरती ही है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमको बहुत शुभ और सार्थक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूँ। वह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वान्तर्यामी और सार्वकालिक रूप में हैं, उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। धरती का रुख सूरज की तरफ हो जाय, यही उसके लिए सूर्योदय है। ऐसे ही मैं मानता हूँ कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ हो जाय तो इसी को भाग्योदय कहना चाहिए।

लेकिन ऐसा हुआ नहीं करता। पुरुषार्थ की इसी जगह संगति है। अर्थात् भाग्य को कहीं से खींचकर उदय में लाना नहीं है, न अपने साथ ही ज्यादा खींचतान करनी है। सिर्फ मुँह को मोड़ लेना है। मुख हम हमेशा अपनी तरफ रखा करते हैं। अपने से प्यार करते हैं, अपने ही को चाहते हैं। अपने को आराम देते हैं, अपनी सेवा करते हैं। दूसरों को अपने लिए मानते हैं, सब-कुछ को अनुकूल चाहते हैं। चाहते यह हैं कि हम पूजा और प्रशंसा के केन्द्र हों और दूसरे आस-पास हमारे इसी भाव में मँडराया करें। इस वासना से हमें छुट्टी नहीं मिल पाती। तब भी होता है कि ऊपर से गहरा दुःख आ पड़ता है। वह हमें भीतर तक विदीर्ण कर जाता है कुछ क्षण के लिए जैसे हमारी अहंता को शून्य कर डालता है। वह शून्यावस्था भगवत् कृपा से ही प्राप्त होती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि दुःख भगवान् का वरदान है। अहं और किसी औषध से गलता नहीं, दुःख ही भगवान् का अमृत है। वह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है, अगर हम उसमें भगवान् की कृपा को पहचान लें। उस क्षण यह सरल होता है कि हम अपने से मुड़ें और भाग्य के सम्मुख हों। बस, इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रखा है। असल में उदय उसका क्या होना है, उसका आलोक तो कण-कण में व्याप्त सदा-सर्वदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आँखों का हो जाय बस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सब उतने मात्रा के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ का कोई दूसरा लक्ष्य मानना बहुत बड़ी भूल करना होगा, ऐसी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होगी।

दुनिया में हम देखते तो हैं। लोग हैं कि बहुत हाथ-पैर पटक रहे हैं, दिन-रात जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं। कोशिश में तो कमी नहीं है पर सिद्धि कुछ नहीं मिल पाती। तो आखिर ऐसा क्यों है? कोशिश की पुरुषार्थ में सिद्धि मानें तो यह दृश्य नहीं दीखना चाहिए कि हाथ-पैर पटकनेवाले लोग व्यर्थ और निष्फल रह जायँ। अगर वे व्यर्थ प्रयास करते रहते हैं तो अंत में यह कह उठे कि क्या करें, भाग्य ही उल्टा है, तो इसमें गलती नहीं मानी जायगी। सच ही अधिकांश यह होता है कि उनका और भाग्य का संबंध उल्टा होता है। भाग्य के स्वयं उल्टे-सीधे होने का तो प्रश्न ही क्या है? कारण, उसकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। वहाँ दिशाएँ तक समाप्त हैं। विमुख और सम्मुख जैसा वहाँ कुछ संभव नहीं है। तब होता यह है कि ऐसे निष्फल प्रत्यनोंवाले स्वयं उससे उल्टे बने रहते हैं अर्थात् अपने को ज्यादा गिनने लग जाते हैं, शेष दूसरों के प्रति अवज्ञा और उपेक्षाशील हो जाते हैं। कर्म में अधिकांश यह दोष रहता है, उसमें एक नशा होता है। नशा चढ़ने पर आदमी भाग्य और ईश्वर को भूल जाता है और विनय की आवश्यकता को भी भूल जाता है। यों कहिए कि जान-बूझकर भाग्य से अपना मुँह फेर लेता है। तब, उसे सहयोग न मिले तो उसमें विस्मय ही क्या है।

ऊपर के शब्दों में आप कृपया कर्म की अवज्ञा न देखें, उसके साथ अकर्म के महत्त्व को भी पहचानें। अकर्म का आशय कर्म

का अभाव नहीं, कर्त्तव्य का क्षय है। 'मैं यह कर रहा हूँ, मैं वह करनेवाला हूँ, यह सब-कुछ करके छोड़ूँगा' आदि-आदि, अहंकारों से किया गया कर्म, यदि सिद्धि और सफलता न लाये बल्कि बंधन और क्लेश उपजाये, तो इसमें तर्क की कोई असंगति नहीं। पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं है, सहयोग भी है। अहं के बल पर चलने से यह सहयोग क्षीण होता है। तब उसका पुरुषार्थ भी क्या कहना?

पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है, सच में पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और विपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुषार्थ को ही उसके अर्थ से विलग और विमुख कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है? बल-विक्रम तो पशु में ज्यादा होता है। दौड़-धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशुचेष्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ-पैर चलाना नहीं है, न क्रिया का वेग और कौशल है, बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकर्त्तव्य-भावना है। वासना से पीड़ित होकर पशु में अद्‌भुत पराक्रम दीख जा सकता है। किन्तु यह पुरुष के लिए ही संभव है कि वह आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाये।

भाग्योदय शब्द में हम इसी सार को पहचानें। भाग्यवादी बनना दूसरी चीज है, उसमें हम भाग्य को अपने ऊपर मानते हैं। भाग्य का यह मानना बहुत ओछा और अधूरा होता है। सचमुच ही इसे मानने से पुरुषार्थ की हानि होती है। पर भाग्य से अपने को अलग मानने का हमें अधिकार ही कहाँ है? भाग्य के यदि हम आत्मीय बनें तो हमारी उसके साथ लड़ाई ही समाप्त हो जाय। तब भाग्योदय का क्षण हमारे लिए नहीं आता, क्योंकि क्षण-क्षण और प्रतिक्षण हमें भाग्योदय का अनुभव होता है। भाग्य यहाँ से वहाँ तक हमारे जीवन को उदित और आलोकित करता है। ऐसा व्यक्ति विरोधी यत्न या श्रम नहीं करता। उसकी कुछ अपनी आकांक्षा अथवा वासना नहीं रहती। उसका कर्म इसलिए उसे थकाता नहीं, अकर्म की प्रेरणा रहने से उसके कर्म में प्रतिक्रिया नहीं होती, न बंधन रह जाता है। मानो, कर्म उससे भाग्य ही कराता है, इसलिए प्रत्येक कर्म उसके भाग्य को प्रशस्त और विस्तृत ही करता जाता है।

भाग्य के प्रति अभ्यंतर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होने के बराबर है। इसे बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। हमारी हस्ती क्या है? आखिर गिनती के कुछ साल हम जीते हैं, फिर हम सदा के लिए मर जाते हैं। चाहे फिर-फिर भी पैदा होते हों, लेकिन हमारी यह अहंता तो यहीं की यहीं रह जाती है। पर हमारे मर जाने से क्या अस्तित्त्व कुछ भी घटता है? जगत् और इतिहास तो चलता ही रहता है। तब इससे बड़ी मूर्खता दूसरी क्या होगी कि हम अपने कतिपय वर्षों के साढ़े तीन हाथ के सीमित अस्तित्त्व को सब-कुछ मान लें और उस कारण बाकी त्रिकाल-त्रिलोक को अमान्य ठहरा दें। भाग्य को न मानना इस तरह उस सब-कुछ को न मानना है जो सचमुच सीमाहीन भाव से है। सच पूछिए तो उदय उसी का है और हमारे पुरुषार्थ के भीतर से उसी का निहित अर्थ पूरा हो रहा है। उस भाग्य को प्रणत भाव से स्वीकार करने में मैं अपने पुरुषार्थ के परमार्थ को ही स्वीकार करता हूँ, उस अर्थ को किसी भी अर्थ में और तनिक भी मंद नहीं करता।

अर्थ हमारा स्वार्थ बन जायगा, पुरुषार्थ वह नहीं कहलायगा, अगर भाग्य के परमार्थ से उसे हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वार्थ के जो चक्र में हैं, वे भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं वह तो उदित है ही, केवल उनकी पीठ उस तरफ है। इसलिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। इच्छाएँ नाना हैं और नाना विधि हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह-रहकर थक जाता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसको द्वन्द्व से थका मारता है। इस संसार को अभी राग-भाव से वह चाहता है कि अगले क्षण उतने ही भाव-विराग से वह उसका विनाश चाहता है। पर राग-द्वेष की वासनाओं से अंत में झुँझलाहट और छटपटाहट ही उसे हाथ आती है। ऐसी अवस्था में उसका यह सच्चा भाग्योदय कहलायेगा अगर वह नत-नम्र होकर भाग्य को सिर आँखों लेगा और प्राप्त कर्त्तव्य में ही अपने पुरुषार्थ की इति मानेगा।

—जैनेन्द्र कुमार

शब्दार्थ

सर्वान्तर्यामी = सब के भीतर की बात जाननेवाले। **सार्वकालिक** = सभी समय विद्यमान रहनेवाला। **संगति** = औचित्य, सार्थकता। **विदीर्ण** = छिन्न-भिन्न कर देना, भेद देना। **अहंता** = अपने होने का बोध, अस्तित्त्व की चेतना। **शून्यावस्था** = अपने होने के बोध के अभाव की अवस्था। **सहयुक्त** = एक साथ जुड़ा हुआ, संलग्न। **अकर्त्तव्य** = अपने को कर्त्ता समझने के अहंकार का अभाव। **आत्म-विसर्जन** = अहंता का त्याग, अहंकार की समाप्ति। **आकांक्षा** = इच्छा। **प्रशस्त** = खुला और फैला हुआ। **अवज्ञा** = अवहेलना, उपेक्षा। **प्रमाद** = भूल, भ्रम, संसार की समग्रता। **प्रणत** = विनयपूर्वक, विनीत। **परमार्थ** = उच्चतम उद्देश्य। **प्रवृत्ति** = विषय में लीन होना, इच्छापूर्ति के लिए आसक्त होकर कार्य में लगना। **निवृत्ति** = अलग होना, त्यागना। **निरर्थक** = अर्थविहीन। **धन्यता** = बड़प्पन। **सार्थक** = अर्थयुक्त। **शून्यावस्था** = अपने न होने का बोध। **त्रिकाल** = तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान)। **इति** = अंत।

अभ्यास प्रश्न

गद्यांश पर आधारित प्रश्न

1. निम्नलिखित गद्यांशों पर आधारित प्रश्नों के उत्तर दीजिए—

(क) एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गये हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है, चलती-घूमती धरती ही है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमको बहुत शुभ और सार्थक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूँ। वह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वान्तर्यामी और सार्वकालिक रूप में है, उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। धरती का रुख सूरज की तरफ हो जाय, यही उसके लिए सूर्योदय है। ऐसे ही मैं मानता हूँ कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ हो जाय तो इसी को भाग्योदय कहना चाहिए।

अथवा भाग्य को भी मैं इसी तरह ..... भाग्योदय कहना चाहिए।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

(ii) विधाता का दूसरा नाम क्या है?

(iii) लेखक ने भाग्योदय को किस रूप में माना है?

(iv) 'भाग्य विधाता का दूसरा नाम है' इस पंक्ति का आशय स्पष्ट कीजिए।

(v) गद्यांश के रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(ख) इसलिए मैं मानता हूँ कि दुःख भगवान् का वरदान है। अहं और किसी औषध से गलता नहीं, दुःख ही भगवान् का अमृत है। वह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है, अगर हम उसमें भगवान् की कृपा को पहचान लें। उस क्षण यह सरल होता है कि हम अपने से मुड़ें और भाग्य के सम्मुख हों। बस, इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रखा है। असल में उदय उसका क्या होना है, उसका आलोक तो कण-कण में व्याप्त सदा-सर्वदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आँखों का हो जाय बस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सब उतने मात्रा के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ का कोई दूसरा लक्ष्य मानना बहुत बड़ी भूल करना होगा, ऐसी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होगी।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश के लेखक एवं पाठ का नाम लिखिए।

(ii) लेखक ने भगवान का वरदान किसे माना है?

(iii) लेखक दुःख को किस रूप में मानता है?

(iv) लेखक के अनुसार भाग्योदय कब होता है?

(v) गद्यांश के रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(ग) अकर्म का आशय कर्म का अभाव नहीं, कर्त्तव्य का क्षय है। 'मैं यह कर रहा हूँ, मैं वह करनेवाला हूँ, यह सब-कुछ करके छोड़ूँगा' आदि-आदि, अहंकारों से किया गया कर्म, यदि सिद्धि और सफलता न लाये बल्कि बंधन और क्लेश उपजाये, तो इसमें तर्क की कोई असंगति नहीं। पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं है, सहयोग भी है। अहं के बल पर चलने से यह सहयोग क्षीण होता है। तब उसका पुरुषार्थ भी क्या कहना?

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

(ii) अकर्म का आशय क्या है?

(iii) प्रस्तुत गद्यांश में लेखक ने किस बात का उल्लेख किया है?

(iv) 'पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं, सहयोग भी है।' इस पंक्ति का आशय स्पष्ट कीजिए।

(v) गद्यांश के रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(घ) पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है, सच में पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और विपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुषार्थ को ही उसके अर्थ से विलग और विमुख कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है? बल-विक्रम तो पशु में ज्यादा होता है। दौड़-धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशुचेष्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ-पैर चलाना नहीं है, न क्रिया का वेग और कौशल है, बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकर्त्तव्य-भावना है। वासना से पीड़ित होकर पशु में अद्‌भुत पराक्रम दीख जा सकता है। किन्तु यह पुरुष के लिए ही संभव है कि वह आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाये।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश के लेखक एवं पाठ का नाम लिखिए।

(ii) लेखक के अनुसार पुरुषार्थ क्या है?

(iii) प्रस्तुत गद्यांश में लेखक ने किस भाव को व्यक्त किया है?

(iv) 'पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है।' इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।

(v) गद्यांश के रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(ङ) इच्छायें नाना हैं और नानाविध हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह-रहकर थक जाता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसको द्वन्द्व से थका मारता है। इस संसार को अभी राग-भाव से वह चाहता है कि अगले क्षण उतने ही विराग भाव से वह उसका विनाश चाहता है। पर राग-द्वेष की वासनाओं से अन्त में झुँझलाहट और छटपटाहट ही उसे हाथ आती है।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त गद्यांश का सन्दर्भ लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) प्रवृत्ति-निवृत्ति के चक्र में फँसा मनुष्य क्यों थक जाता है?

(iv) प्रेम और ईर्ष्या की वासनाओं में पड़कर व्यक्ति की स्थिति कैसे हो जाती है?

(v) कौन-सा द्वन्द्व व्यक्ति को थका देता है?

(च) दुनिया में हम देखते तो हैं कि बहुत हाथ-पैर पटक रहे हैं, दिन-रात जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं। कोशिश में तो कमी नहीं है, पर सिद्धि कुछ नहीं मिल पाती। तो आखिर ऐसा क्यों है? कोशिश की पुरुषार्थ में सिद्धि मानें तो यह दृश्य नहीं दीखना चाहिए कि हाथ-पैर पटकने वाले लोग व्यर्थ और निष्फल रह जाएँ। अगर वे व्यर्थ प्रयास करते रहते हैं तो अंत में यह कह उठे कि क्या करें, भाग्य ही उल्टा है, तो इसमें गलती नहीं मानी जायेगी।

प्रश्न– (i) उपर्युक्त अवतरण का सन्दर्भ लिखिए।

अथवा गद्यांश के पाठ और लेखक का नाम लिखिए।

(ii) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(iii) व्यक्ति भाग्य पर दोष कब मढ़ते हैं और अपनी गलती नहीं मानते?

(iv) कोशिश और पुरुषार्थ में क्या अन्तर है?

(v) संसार में सिद्धि प्राप्त करने हेतु लोग क्या-क्या करते हैं?

(छ) भाग्य के प्रति अभ्यंतर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होने के बराबर है। इसे बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। **[2020 ZA]**

(i) पुरुष मुक्त और समग्र कब होता है?

(ii) भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना किसके बराबर है?

(iii) भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना किस लक्षण को व्यक्त करता है?

(iv) रेखांकित अंशों की व्याख्या कीजिए।

(v) पाठ का शीर्षक एवं लेखक का नाम लिखिए।

(झ) अर्थ हमारा स्वार्थ बन जाएगा, पुरुषार्थ वह नहीं कहलायेगा अगर भाग्य के परमार्थ से उसे हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वार्थ के जो चक्र में है, वे भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं वह तो उदित है ही, केवल उनकी पीठ उस तरफ है। इसलिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। **[2020 ZB]**

(i) उपर्युक्त गद्यांश के पाठ का शीर्षक और लेखक का नाम लिखिए।

(ii) पुरुषार्थ क्या नहीं कहलाएगा?

(iiii) कौन भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं?

(iv) रेखांकित अंश की व्याख्या कीजिए।

(v) 'पुरुषार्थ' तथा 'परामर्श' शब्द का अर्थ लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जैनेन्द्र कुमार का जीवन-परिचय बताते हुए उनकी भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए। **[2018 AA, 19 CM]**
2. जैनेन्द्र कुमार का साहित्यिक परिचय देते हुए उनकी कृतियों का उल्लेख कीजिए।

[2016 SB, SD, 17 MA, MC, MF, MG, 18AA, 19 CO, CP, CR, 20 ZD, ZF]

अथवा जैनेन्द्र कुमार का साहित्यिक परिचय दीजिए।

3. जैनेन्द्र कुमार का जीवन-परिचय देते हुए उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं का उल्लेख कीजिए।
4. 'भाग्य और पुरुषार्थ' पाठ का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।
5. निम्नलिखित सूक्तिपरक वाक्यों की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिए—

(क) "दुःख ही भगवान् का अमृत है।"

(ख) "अकर्म का आशय, कर्म का अभाव नहीं, कर्त्तव्य का क्षय है।"

(ग) "पुरुष अपने अहं से विमुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है।"

(घ) "यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसे द्वंद्व से थका मारता है।"

(ङ) "पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं है, सहयोग भी है।"

(च) "पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है, सच में पुरुष और भाग्य का ही है।"

(छ) "भाग्य तो विधाता का दूसरा नाम है।"

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ''भाग्य और पुरुषार्थ विरोधी न होकर सहयोगी हैं।'' लेखक के इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
2. ''भाग्य तो विधाता का ही दूसरा नाम है।'' इस कथन के औचित्य पर विचार कीजिए।
3. ''जैसे सूरज की तरफ रुख होना सूर्योदय है वैसे ही भाग्य की तरफ मुख होना भाग्योदय है।'' उपर्युक्त कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
4. ''पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं सहयोग भी है।'' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
5. 'भाग्य और पुरुषार्थ' निबन्ध में लेखक ने भाग्यवादी बनने का विरोध क्यों किया है?
6. मानव-जीवन में दुःख का क्या महत्त्व है? वह हमारे व्यक्तित्त्व को किस रूप में प्रभावित करता है? पठित निबंध के आधार पर उत्तर दीजिए।
7. 'भाग्य और पुरुषार्थ' के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
8. पुरुषार्थ पशुचेष्टा से किस अर्थ में भिन्न है? स्पष्ट कीजिए।
9. लेखक ने भाग्योदय के महत्त्व को स्वीकार किया है किन्तु भाग्यवादी बनने का विरोध किया है। कारण स्पष्ट कीजिए।
10. जैनेन्द्र की निबंध-शैली चिन्तनपरक है। पठित निबंध के आधार पर इसकी पुष्टि कीजिए।
11. क्या लेखक के भाग्य और पुरुषार्थ सम्बन्धी विचार आधुनिक युग की विचारधारा के अनुकूल हैं? तर्कसहित उत्तर दीजिए।
12. जैनेन्द्र ने भाग्य और पुरुषार्थ के समन्वय में अहंकार को किस प्रकार बाधक माना है?
13. भाग्यवादी बनने से क्या हानि होती है? समझाइए।